चुकी है उसमें कोई गति नहीं है, प्रवाह नहीं है, नदी की धारा की तरह उसमें आगे बढ़ने वाला कुछ भी नहीं है। जब तक हम उसके इस प्रवाहात्मक स्वरूप को नहीं समझेंगे, उसे नहीं अपनाएंगे, उसे आत्मसात् नहीं करेंगे, तब तक वह हमारे विचार का अभिन्न अंग नहीं बनेगी, जब तक हम उसकी इस प्रवाह प्रक्रिया में स्वयं अपने को केन्द्रित नहीं करेंगे ओर अपना यह उत्तरदायित्व नहीं समझेंगे कि हम अपनी स्वयं की शक्ति के अनुसार, अपनी बुद्धि के अनुसार, उसे कैसे आगे ले जाएँ, तब तक मैं समझता हूँ कि न हमें अपनी संस्कृति की अस्मिता की पहचान होगी और न अपनी अस्मिता की। ये बातें बहुत गहरी हैं। आप जिन्दगी में भारतीय होने के लिए चाहे त्यौहार मनाएँ, पूजा-पाठ करें, ध्यान करें, पर केवल इससे ही 'भारतीय' होना मुश्किल है। लेकिन ये सब अपने आप में ठीक हैं लेकिन ऐसा नहीं हो सकता। मैं दोहराता हूँ कि यह नहीं हो सकता कि चिन्तन के क्षेत्र में तो किसी की सारी कोटियाँ पश्चिम की हों, सारी समस्याएँ पश्चिम की हों, सारे प्रश्न पश्चिम के हों। तो भी वह 'भारतीय' हो सकता है। अगर हमारी बुद्धि पश्चिम की धरोहर के संदर्भ में ही चलेगी तो भारतीयता नहीं रह सकती–अब रहनी चाहिए या नहीं, यह अलग प्रश्न है इसके बारे में मुझे यहाँ कुछ नहीं कहना है। लेकिन यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि केवल अध्यात्म, परम्परा, संगीत, नृत्य या केवल साहित्य या इन चीजों के माध्यम से आप अपनी संस्कृति को जीवित रख सकते हैं। संस्कृति को जीवित रखने के लिए आपको उस संस्कृति का विशाल बौद्धिक वैभव स्वीकार करना होगा, जो आपको ढाई हजार साल से विरासत में मिला है, उसे आपको आगे बढ़ाना होगा, अपनी बुद्धि के अनुसार अपनी क्षमता के अनुसार आगे बढ़ाना होगा।

❑

भारतीय दर्शन के तीन संप्रत्यय

भारतीय दर्शन अब तक पुरातनवादियों की ही रुचि का विषय रहा है, एक ऐसा विषय जो मृत और अतीत है, भारती विदों के पास सुरक्षित संभला हुआ, जिसकी प्रासंगिकता केवल प्राचीन भारतीय संस्कृति के अध्ययन के संदर्भ में ही है। यह आज के दार्शनिक वातावरण में कोई स्थान नहीं रखता—सर्वथा नहीं, उतना भी नहीं जितना एरिस्टोटल और प्लेटो भी, और स्वयं भारत में भी नहीं जहाँ कि उचित रूप से इसको स्थान मिलने की आशा की जा सकती है। इस सब का दोष उन लोगों के माथे मढ़ा जाना चाहिए जिन्होंने इस विषय पर लिखा है और यह प्रभाव ड़ालने का प्रयत्न किया है कि भारतीय दर्शन वस्तुत: दर्शन नहीं है वरन् इससे कुछ भिन्न है—कुछ ऐसा जो दर्शन से अधिक गम्भीर एवं गहन है। निश्चय ही इसका स्वरूप ठीक वही नहीं है जो आजकल 'दर्शन' से समझा जाता है। यदि स्थिति वास्तव में यही है तो दार्शनिकों द्वारा, चाहे वे भारतीय हों अथवा पश्चिमी, इसकी उपेक्षा न्यायोचित है, क्योंकि स्वयं इसके प्रस्तोता यह उद्घोषणा कर चुके हैं कि इन दार्शनिकों के लिए यह किसी प्रयोजन का नहीं है।

भारतीय दर्शन की किसी भी पुस्तक के प्रथम पृष्ठ पर ही भारतीय दर्शन का विषय आत्मा की अन्तिम या चरम मुक्ति अथवा जिसे मोक्ष कहा जाता है, उद्घोषित किया गया है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि इन लेखकों के मत में यह अनेकों में से एक वस्तु नहीं है जिनकी भारतीय दर्शन चर्चा करता है, वरन् उनके मत में यह मुख्य विषय है जिसके चारों ओर समस्त भारतीय दर्शन बुना हुआ है और केवल जिसके प्रकाश में यह अन्य दार्शनिक परम्पराओं की तुलना में अपना विशिष्ट अर्थ एवं अद्वितीयता प्राप्त करता है। इससे भी अधिक, यह दावा किया जाता है कि मोक्ष के संप्रत्यय के परिप्रेक्ष्य (पर्स्पैक्टिव) में ही भारतीय दर्शन कुछ अर्थ रखता है।

भारतीय दर्शन के प्रति यह दृष्टिकोण विशेषज्ञों और सामान्य लोगों में समान रूप से है। इस विषय पर लिखने वाले सभी इसे स्वसिद्धवत् (एग्जियम) मान कर चलते हैं, मानो इसकी स्थापना के लिए प्रमाण की अपेक्षा ही नहीं है। वास्तव में, प्रथम दृष्टि में ही यह एक बड़ी समस्या प्रतीत होती है कि आखिर कैसे भारतीय

दर्शन अपने युगदीर्घ अतीत में जिन अनेकानेक दार्शनिक प्रश्नों पर विचार करता रहा है उन सबको मोक्ष से सम्बन्धित किया जाता रहा है, जो कि निर्विवाद रूप से इन सबका केन्द्र बिन्दु माना जाता रहा है। किन्तु तब भी किसी को इसमें कोई समस्यात्मकता दिखाई नहीं दी। प्रत्येक लेखक प्रथम पृष्ठ अथवा अध्याय में ही यह दावा करने के पश्चात् प्रसन्नतापूर्वक अन्य विषयों और वस्तुओं के बारे में लिखता रहता है और इस दावे को इस तरह विस्मृत कर देता है मानो उसने ऐसा दावा किया ही न हो। वास्तव में कोई लेखक भारतीय एवं पाश्चात्य विचारकों के चिन्तन में समानान्तरता का दावा तक करता रह सकता है और सुविधापूर्वक भूल सकता है कि उसे इस समानान्तरता को स्वयं की इस प्रतिज्ञा को ध्यान में रख कर स्पष्ट करना पड़ेगा कि भारतीय दर्शन पश्चिमी दर्शन से मूलरूपेण भिन्न है, क्योंकि भारतीय दर्शन का लक्ष्य मूलत: एवं आवश्यक रूप से आध्यात्मिक मुक्ति है जबकि पाश्चात्य दर्शन के लिए यह बात नहीं है। इसलिए स्पष्टतया यदि पाश्चात्य दर्शन आध्यात्मिक मुक्ति से सम्बन्धित न हो और फिर वे ही समस्याएँ अत्थित करता हो जो भारतीय दर्शन करता है तो या तो इस विचार में कोई गलती है कि पाश्चात्य दर्शन मोक्ष से सम्बन्धित नहीं है, या इस दावे में कोई भूल है जिसमें यह कहा गया है कि भारतीय दर्शन केवल मोक्ष से सम्बन्धित है और अन्य किसी बात से नहीं।

अलबत्ता यह बिल्कुल सही नहीं है कि ऐसा एक भी लेखक नहीं है जिसे यह समस्या प्रस्तुत न हुई हो कि भारतीय दर्शन की विधि और मोक्ष में जिसे कि इसका एकमात्र लक्ष्य मान लिया गया है, क्या सम्बन्ध है? कार्ल एच. पॉटर के लिए अपनी नवीन पुस्तक 'भारतीय दर्शनों की पूर्व मान्यताएँ' में वस्तुत: यही प्रमुख विचार्य प्रश्न है। वास्तव में, शायद वही प्रथम व्यक्ति है जिसने भारतीय दर्शन के मोक्ष के दावे को गम्भीरता से लिया है। पॉटर के विमर्श के पीछे यही मुख्य प्रश्न दिखाई देता है कि "भारतीय दर्शन की स्पष्ट सम्प्रत्ययात्मक एवं सैद्धान्तिक चिन्ताओं की इसकी पूर्वमान्य और उद्घोषित चिन्ताओं से कैसे संगति बैठायी जाये?" यद्यपि उसने इसकी रचना ठीक इसी प्रकार से नहीं की है, तो भी शायद यह उसके मंतव्य को वर्णन करने का सबसे अच्छा तरीका है, जिसके लिए उसने प्रयत्न किया है। वास्तव में इस पुस्तक में एक अध्याय है—'प्रकल्पनात्मक (स्पेकुलेटिव) दर्शन का प्रादुर्भाव कैसे होता है?' जैसे मानो किसी भी भारतीय दर्शन के लेखक को सबसे पहले इस प्रश्न पर विचार करने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए। उसके लिए भारतीय दर्शन के समस्त प्रकल्पनात्मक प्रयत्नों को न्यायोचित ठहराना आवश्यक है। यह उसके पूर्वकल्पित, प्राथमिक तथा एकमात्र लक्ष्य मोक्ष से विरुद्ध अथवा उससे असम्बद्ध दिखाई देता है। पॉटर के मत में भारतीय परम्परा में प्रकल्पनात्मक दर्शन की आवश्यकता इसलिए उठती है क्योंकि उसे उन संदेहों का निरास करना पड़ता है जो मुमुक्षु पर आक्रमण करते हैं।

हाँ, यह आवश्यक है कि यह संदेह बौद्धिक प्रकृति के ही होने चाहिएँ, क्योंकि सम्भवत: दार्शनिक चिन्तन मुश्किल से ही अन्य प्रकार के संदेहों का निवारण कर सकता है। पॉटर लिखता है, "भारत में प्रकल्पनात्मक दर्शन का व्यापार व्यापक एवं सीमित दोनों प्रकार के संशयवाद एवं भाग्यवाद पर प्रहार करना है।" अब, यह कथन भारतीय दर्शन को केवल संशयवाद एवं भाग्यवाद पर प्रहार करने तक ही सीमित कर देता प्रतीत होता है और वह भी तभी जब कि वे मोक्ष की प्राप्ति में बाधक हो। इस पिछली शर्त को पॉटर ने बहुत स्पष्ट रूप से प्रस्तुत नहीं किया है, लेकिन ये उनके सभी विचार-विमर्शों में ध्यनित होता है और मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि वह मेरे इस विधान या व्यवस्था का कोई अपवाद नहीं करेगा। अलबत्ता यह मान लेता है कि "परम्परानुसार प्राचीन भारत में संशयवादी और भाग्यवादी दोनों थे," लेकिन सम्भवत: वह उन्हें भारतीय दार्शनिक नहीं मानेगा, क्योंकि अन्यथा उसका यह दिखाने का तरीका, कि प्रकल्पनात्मक दर्शन भारत में कैसे आया, कम से कम उस सीमा तक तो अनुपयुक्त हो जायेगा। भारत में दर्शन का उदय, इस मत के अनुसार, उन बौद्धिक कठिनाइयों को हल करने के प्रयत्न में माना जाता है जो साधक को मोक्ष के रास्ते पर बढ़ने से रोकती हैं। चूँकि ये प्रकल्पित कठिनाइयाँ स्वरूपत: ही बौद्धिक हैं इसलिए इनका निवारण केवल विचार एवं युक्ति द्वारा ही किया जा सकता है, जो स्वयं भी स्वभाव से पूर्णत: बौद्धिक है। यह भारतीय दर्शन के वास्तविक लक्ष्यों से, जो कि स्वभावत: प्रकल्पनात्मक एवं संप्रत्ययात्मक हैं, इसके कल्पित रूप से वास्तविक लक्ष्य में, अर्थात् मोक्ष या आध्यात्मिक मुक्ति में, जो स्वभावत: न तो बौद्धिक है और न संप्रत्ययात्मक, प्रतीयमान विरोध को मिटा देगा।

पॉटर ने स्वयं को केवल दो बौद्धिक कठिनाइयों तक ही, अर्थात् संशयवाद और भाग्यवाद, जो मोक्ष के मार्ग में विघ्न हैं, सीमित कर दिया, लेकिन यह सीमा भारतीय दर्शन के बारे में इस संप्रत्यय की सत्यता या वैधता के विचारार्थ न तो आवश्यक है न वांछनीय ही। वास्तव में कोई भी बौद्धिक कठिनाई, जो सम्भवत: एक व्यक्ति को मोक्ष के मार्ग पर बढ़ने से रोक सके या उस लक्ष्य प्राप्ति के मार्ग में रुकावट ड़ाल सके, जब दूर कर ली जाती है तो वह, इस मतानुसार, दर्शन को जन्म दे सकती है। अत: ऐसी कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती कि जिसके कारण इन कठिनाइयों को केवल इन्हीं विशेष प्रकार की कठिनाइयों तक सीमित कर दिया जाये।

दुर्भाग्यवश भारतीय दर्शन की यह अवधारणा उन मान्यताओं पर आधारित है जिन्हें यदि स्पष्ट किया जाये तो ये अत्यधिक संदेहजनक दिखलाई पड़ती हैं। प्रथमत: यह ध्यान देने योग्य है कि भारतीय दर्शन की इस प्रकार की धारणा इसे मोक्ष से पूर्णतया और आवश्यक रूप से नहीं जोड़ती। यह तो इस शर्त पर निर्भर है कि किसी व्यक्ति के मस्तिष्क में मोक्ष के सम्बन्ध में बौद्धिक कठिनाइयाँ उठें और

ये ऐसी पराभूत करने वाली हों कि इनके निवारण के बिना उसके लिए इस आदर्श को प्राप्त करना या उस पर चलना या उसके अन्वेषण तक असम्भव हो जाये। स्पष्टत: सबसे अच्छा तो यही होगा कि ये कठिनाइयाँ बिल्कुल ही न उठें, क्योंकि मोक्ष के दृष्टिकोण से यह समय को केवल व्यर्थ करना ही होगा। दर्शन के द्वारा वास्तव में कुछ भी प्राप्त नहीं होता है सिवाय उन कठिनाइयों के निवारण के जिन्हें वास्तव में उठने ही नहीं दिया जाना चाहिये था। इस दृष्टिकोण के अनुसार बौद्धिक कठिनाइयाँ एक प्रकार की बीमारियाँ हैं जो व्यक्ति को वह प्राप्त करने से रोकती हैं जो वस्तुत: प्राप्त करना चाहिए। और दर्शन एक प्रकार का चिकित्सीय अनुशासन है जो उनके निवारण और उपचार में सहायता करता है।

जो समकालीन दार्शनिक विचार से थोड़ा भी परिचित है वे इस प्रकार के दृष्टिकोण की कुछ समकालीन दृष्टिकोणों से अनुरूपता स्पष्ट देख ही सकते हैं। प्रोफेसर पॉटर इस प्रकार की अनुरूपता से आश्चर्यान्वित हो सकते हैं; लेकिन मूलत: दर्शन का कोई भी दृष्टिकोण, जो स्वयं अपनी स्वायत्त वैधता के दावे में संदेहशील है, उक्त प्रकार के विभिन्न दृष्टिकोणों में से एक में परिणत होगा। समकालीन विचारधाराएँ अलबत्ता अपने आप को मोक्ष तक सीमित नहीं रखतीं। वस्तुत: वे ऐसी किसी वस्तु को नहीं जानतीं, फिर भी समकालीन अस्तित्ववादी विचारक परम्परागत दर्शन की ओर अपने दृष्टिकोण को सम्भवतया इन्हीं शब्दों में व्यक्त कर सकता है। दर्शन के प्रज्ञानात्मक प्रयत्न (कोग्नीटिव एंटरप्राइज) के रूप में अप्रासंगिकता या निरर्थकता और वास्तव प्रज्ञान में इसके रुकावट ड़ालने वाले एवं चिकित्सीय व्यापार तो एक ओर, और निष्ठापूर्ण जीवन दूसरी ओर, एक ऐसा प्रश्न है जो स्वत: व्याख्या की अपेक्षा करता है। किन्तु यहाँ हम इस प्रश्न पर विचार नहीं कर सकते, क्योंकि यह हमारे मुख्य प्रश्न के लिए केन्द्रीय महत्त्व का नहीं है। फिर भी इतना कहा जा सकता है कि वे समस्त कारण, जिनको एक व्यक्ति सामान्य दृष्टिकोण के विरुद्ध वैध मानता है, वे उतनी ही वैधता के साथ विशेष दृष्टिकोण पर भी लागू होंगे जो इसे केवल मोक्ष के संदर्भ में ही सीमित कर देता है।

इस संप्रत्यय के अनुसार दर्शन अपनी सापेक्षता (कंटिंजेंसी) को उतार कर फेंक सकता है, यदि यह मान लिया जाये कि मोक्ष के रास्ते पर बौद्धिक कठिनाइयाँ अपरिहार्य एवं आवश्यक रूप से उठती हैं क्योंकि मनुष्य स्वभावत: विचारशील है, और इसीलिए उनका निवारण किसी के लिए भी उस रास्ते पर चलने का उपक्रम करने से पूर्व, या निरन्तर चलते रहने के लिए, आवश्यक पूर्वापेक्षा है। यह भारत में दर्शन को आध्यात्मिक मुक्ति की चेष्टा का केन्द्र बना देगा, यद्यपि केवल निषेधात्मक अर्थ में। लेकिन यदि यह भी मान लिया जाये तो भी यह संप्रत्यय उन पूर्व मान्यताओं से दूषित होगा जो मुझे अत्यधिक आपत्तिजनक दिखाई देती हैं। प्रथम, इस दृष्टिकोण में यह निहित रूप से

(इम्प्लिसिटली) मान लिया गया है कि विशुद्ध वैचारिक एवं प्रज्ञानात्मक प्रकार की बौद्धिक कठिनाइयाँ लक्ष्यों के व्यावहारिक अनुसरण के पथ में बाधक बन सकती हैं जो स्वयं अपने आप में अप्रज्ञानात्मक, अबौद्धिक एवं अतार्किक हैं। यह स्पष्टतया गलत बात है। उदाहरणत:, गति के स्वभाव के बारे में असाध्य संप्रत्ययात्मक कठिनाइयाँ होने पर भी आज तक कोई चलने से नहीं रुका है। यहाँ तक ज़ीनो भी नहीं, जो कि प्रथम दार्शनिक माना जाता है जिस पर उन्होंने चारों ओर से और निरन्तर आक्रमण किया था। और यह, जैसा कि प्रत्येक व्यक्ति जानता है, सभी अन्य दार्शनिक कठिनाइयों के बारे में भी समान रूप से सही है, फिर चाहे वे देश या काल या अनेकत्व या परिवर्तन या आत्मा या पुद्गल या अन्य किसी के बारे में हों। इस विषय में पूर्व और पश्चिम में कोई भेद नहीं है। कम से कम मैं आशा करता हूँ कि वह नहीं है जो पॉटर इस सम्बन्ध में आरोपित करना चाहता है। विश्व की अवास्तविकता या जगन्मिथ्यात्व का सिद्धान्त भारतीय दार्शनिकों के अपने समकालीनों के साथ सफल व्यवहार के मार्ग में रुकावट नहीं हुआ है, फिर चाहे वह विचार का क्षेत्र रहा हो या रहन-सहन का। वस्तुत: सोचने पर भी मजबूर होना होगा कि प्रमुख भारतीय दार्शनिक इस प्रकार के व्यक्ति नहीं थे कि जिनका मोक्ष का अनुसरण या इसकी प्राप्ति किसी भी प्रकार उनकी बौद्धिक कठिनाइयों द्वारा रुकी हो। बल्कि उनमें से प्रमुख व्यक्ति तो हमेशा वे माने जाते रहे हैं जो पहले से ही मुक्ति प्राप्त कर चुके होते थे। यह सोचना करीब-करीब उन पर अविश्वास जैसा होगा कि शंकर या रामानुज आध्यात्मिक मुक्ति प्राप्त नहीं कर चुके थे और उनका दर्शन उन बौद्धिक संशयों को मिटाने से सम्बन्धित था जो उन्हें मोक्ष मार्ग के अनुसरण में या उसकी प्राप्ति में बाधक हो रहे थे। इस संदर्भ में यह स्मरण रखने योग्य है कि इनमें से अधिकांश दार्शनिकों ने अपने दार्शनिक ग्रन्थ उसी के पश्चात् लिखे जब उन्हें मुक्ति अवस्थापन्न मान लिया गया था। यदि पॉटर का दृष्टिकोण सही हो तो उनके इस प्रकार के कार्य में प्रवृत्ति का इसके सिवाय कोई कारण नहीं हो सकता कि शायद वे अपने शिष्यों की मुक्ति के मार्ग में उपस्थित बौद्धिक संशयों के निवारणार्थ ही ऐसा कर रहे थे या उन अन्य व्यक्तियों के लिए कर रहे थे जो उनके शिष्य बनने में तो हिचकते थे किन्तु उसी प्रकार की कठिनाइयों का सामना कर रहे थे।

कुछ भी हो; इस पूर्व मान्यता से भी कि विशुद्ध बौद्धिक कठिनाइयाँ ध्येय प्राप्ति में बाधक हो सकती हैं, अधिक गहन एक दूसरी पूर्व मान्यता है जो शायद पहली की अपेक्षा अधिक आपत्तिजनक है। यह पूर्व मान्यता यह है कि विशुद्ध बौद्धिक या संप्रत्ययात्मक कठिनाइयाँ एक बार और हमेशा के लिए सुलझाई या समाप्त की जा सकती हैं, जिससे कि कम से कम उनके पश्चात् व्यावहारिक कार्य के मार्ग में कोई बाधा न हो। किन्तु जैसा कि प्रत्येक व्यक्ति जानता है, दुर्भाग्यवश ऐसा है नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्धिक कठिनाइयों की अपनी

प्रजनन शक्ति बहुत विशाल है जिसके कारण कि अपनी मृत्यु एवं विलय के समय भी प्रत्येक कठिनाई कुछ और अधिक कठिनाइयों को जन्म दे देती हैं जो अपने हल के लिए समान रूप से कोलाहल करती रहती हैं। और वह कठिनाई भी, जिसके लिए ऐसा प्रतीत होता है कि उसे समुचित रूप से दफ़ना दिया गया है और प्रकृति की उन शक्तियों के हाथों समर्पित कर दिया गया है जो स्वभावत: विघटन एवं विनाश करती रहती हैं, एक बार पुन: उसी प्रकार खड़ी हो जाती हैं जैसे कि एक प्राचीन कहानी का पौराणिक दैत्य खड़ा हो कर मनुष्य को दु:ख देता है और पुन: युद्ध के लिए चेतावनी देता रहता है।

स्पष्टतया, यहाँ स्थिति यह है कि यदि दर्शन को उन बौद्धिक कठिनाइयों के निवारण का पर्याय माना जाये जो स्वयं विशुद्ध बुद्धि की अपनी प्रकृति से उत्पन्न होती है और फिर भी मनुष्य के उचित कार्य के मार्ग में रुकावट डालती है, तो दर्शन का कार्य सर्वदा के लिए स्वयं को पराजित करने वाला बन जायगा, क्योंकि उस प्रकार की कठिनाइयाँ स्वयं बुद्धि के शाश्वत उद्गम स्थल से नयी प्रकट हो जायेंगी। इस प्रकार मनुष्य कभी भी कार्य में प्रवृत्त नहीं हो पायेगा, क्योंकि जब तक समस्याओं की शृंखला को अन्तिम रूप से तोड़ नहीं दिया जायेगा और उसके पुन: आगमन की सम्भावना तक को सफलतापूर्वक दर्शन द्वारा हटा नहीं दिया जायेगा तब तक वह हमेशा बौद्धिक कठिनाई की कृपा पर आश्रित रहेगा, जो कभी भी उठ सकती है या जो किसी कोने में छिपी पड़ी रह सकती है।

अब यह तर्क दिया जा सकता है कि इस प्रकार की परिस्थिति केवल दर्शन में ही विशेष तौर पर नहीं है। आखिरकार भौतिक रोग के विरुद्ध युद्ध भी इसी अर्थ में शाश्वत और आत्मघाती है। किसी रोग का उपचार यह विश्वास करने का अधिकार नहीं देता कि वह व्यक्ति पुन: उसी रोग से पीड़ित नहीं होगा या कि यह उपचार स्वयं भविष्य में किसी अन्य रोग को जन्म नहीं देगा और आखिर में, जैसा कि प्रत्येक व्यक्ति जानता है, सभी उपचार रोग को उस निश्चित और अन्तिम विजय, जिसे मृत्यु कहते हैं, को विलम्ब करने के केवल अस्थायी प्रयास हैं। इनकी समानान्तरता और भी अधिक बढ़ जायगी यदि हम याद रखें कि उपचार करने वाला चिकित्सक भी रोग से ग्रस्त हो सकता है और एक रोगी चिकित्सक किसी अन्य को, जो बीमार है, या स्वयं को भी, ठीक करने का प्रयत्न कर सकता है। चिकित्सक किसी रोग के वास्तविक स्वभाव के बारे में भी भिन्न मत रख सकते हैं जिससे कि वे स्वयं या अन्य कोई व्यक्ति पीड़ित हो।

यह सादृश्य यद्यपि रोचक है तथापि यह एक मौलिक अर्थ में असफल हो जाता है। विशुद्ध बौद्धिक कठिनाइयाँ, जिनको यहाँ हमारी आपत्तियों के निवारणार्थ भौतिक रोगों के समान समझा जा रहा है, स्वयं भी वैचारिक क्षेत्र में दार्शनिक के कार्यों के परिणाम हैं जो स्वभावत: दार्शनिक हैं। दार्शनिक केवल मात्र उस रोग का उपशमन ही नहीं करता जो उत्पन्न हो चुका है वरन् यह भी एक तथ्य है कि यह

रोग केवल स्वयं दार्शनिक के कार्यों से ही उत्पन्न हो चुका है वरन् यह भी एक तथ्य है कि यह रोग केवल स्वयं दार्शनिक के कार्यों से ही उत्पन्न हुआ है, अन्यथा यह उत्पन्न ही नहीं होता। अत: यह याद रखना चाहिए कि 'दर्शन' के नाम का प्रयोग एक साथ ही रोग के लिए भी और इसके उपचार के प्रयत्न के लिए भी होता है। प्रत्येक दार्शनिक अलबत्ता अन्य सभी को रोग-ग्रसित मानता है और समस्त चिकित्सीय कार्य को पूरी तरह से अपने पास सुरक्षित रख लेता है। अत: दोनों का सादृश्य तभी पूर्ण हो सकता है जबकि भौतिक चिकित्सक रोग के जनक और उपचारक दोनों हों।

अत: पॉटर के भारतीय दर्शन के संप्रत्यय की इन दो अन्तिम मुख्य पूर्व मान्यताओं को, जो यद्यपि स्वीकार नहीं की गई हैं, जब स्पष्ट किया जाता है तो वे उसके भारतीय दर्शन के संप्रत्यय को पूर्णतया अस्वीकार्य बना देती हैं। अब, क्योंकि ये दोनों पूर्व मान्यताएँ दर्शन के रोग तथा उपचारात्मक दृष्टिकोण से भी, जो कि आज इतना प्रचलित है, समान रूप से स्वीकृत है इसलिए उनकी पूर्ण एवं स्पष्ट अस्वीकार्यता उस दृष्टिकोण की आधारशिलाओं तक को प्रभावित करेगी। आधुनिक दार्शनिकों को, जो इस दृष्टिकोण के लिए तर्क करते हैं—अभी भी यह दिखाना है कि बौद्धिक कठिनाइयाँ व्यावहारिक साध्यों की प्राप्ति में बाधा दे सकती हैं, और यह भी कि एक तरीका या कुछ साधन हैं जिनके द्वारा उनको सदा के लिए, पूर्णतया और अन्तिम रूप से, हटाया जा सकता है। आधुनिक मनोविज्ञान की समस्त शोधों और समकालीन दार्शनिक चिन्तन के इतिहास से इन पूर्व मान्यताओं के एक मात्रा तक भी सत्य होने की सम्भावना दिखाई नहीं देती; उन विचारकों तक में भी नहीं जो प्रकट रूप से और सचेतन भाव से इस प्रकार के दृष्टिकोण के समर्थक हैं। तो भी केवल पॉटर ने ही पहली बार यह बताने का प्रयत्न नहीं किया है कि भारतीय दर्शन किस प्रकार मोक्ष से सम्बन्धित है। मैं, कम से कम, एक और ऐसे संप्रत्यय से परिचित हूँ जो यही करने का प्रयत्न करता है, हाँ, यह इस कार्य को ऐसे वक्र और अस्पष्ट ढ़ंग से करता है कि किसी के स्पष्ट और प्रत्यक्ष रूप से बताये बिना किसी को भी इसका बोध नहीं हो सकता। यह दृष्टिकोण के.सी. भट्टाचार्य के भारतीय दर्शन पर लेखों में हमें मिलता है और मैंने उसी पर अपने समीक्षा लेख में, जो विश्व भारती त्रैमासिक में छप चुका है, इस ओर निर्देश किया है। इस दृष्टिकोण के स्पष्टीकरण और इसकी परीक्षा से पूर्व यह कह देना आवश्यक है कि हमारे प्रतिपादन के लिए यह अप्रासंगिक है कि यह संप्रत्यय निहित या पूर्व मान्यता के रूप में भट्टाचार्य के लेखों में वास्तव में ही विद्यमान है या नहीं। यह संप्रत्यय मुझे भट्टाचार्य के लेखों से सूझ पड़ा, और जहाँ तक मैं जानता हूँ, किसी में इस विषय पर ऐसे विचार की भनक भी नहीं मिलती। जो भी हो, मूल पाठ और इतिहास सम्बन्धी यह प्रश्न कि भट्टाचार्य के लेखों में वास्तव में यह संप्रत्यय मिलता ही है, इस प्रश्न से भिन्न है कि क्या यह संप्रत्यय भारतीय

दर्शन और मोक्ष में सम्बन्ध की उचित व्याख्या प्रस्तुत करता है या नहीं? मैं यह मान कर चलूँगा कि प्रथम प्रश्न का संतोषप्रद उत्तर दिया जा चुका है और इसीलिए उस संप्रत्यय को, जिसका मैं वर्णन और परीक्षा करने जा रहा हूँ, के.सी. भट्टाचार्य का भारतीय दर्शन का संप्रत्यय कहूँगा।

इस संप्रत्यय के अनुसार भारतीय दर्शन अनिवार्यत: उसका सैद्धान्तिक प्रतिरूप है जो व्यावहारिक स्तर पर क्रियान्वित या प्रत्यक्ष होने पर साधना कहलाता है। केवल दार्शनिक मनन ही उन सम्भावनाओं के बोध एवं विचार की ओर प्रवृत्त करता है जिन्हें तत्पश्चात् साधना या योग की व्यावहारिक प्रक्रिया द्वारा क्रियान्वित या सिद्ध कर लिया जाता है। मुख्य बात यह है कि बिना दार्शनिक मनन के मनुष्य को उस मोक्ष का भाव नहीं होगा जो उसकी सत्ता की अन्तरतम वास्तविकता है और जिसको जाने बिना वह सारत: अज्ञानी एवं अपूर्ण रहेगा। निश्चय ही मोक्ष असंप्रत्ययात्मक है, किन्तु केवल संप्रत्ययात्मक चिन्तन ही हमें इसके हमारे अस्तित्व की अन्तरतम सम्भावना और सत् होने का बोध दे सकती है। के.सी. भट्टाचार्य के शब्दों में, यद्यपि केवल दार्शनिक मनन ही हमें उन कतिपय सम्भावनाओं का बोध करा सकता है जो वास्तविकता में परिणत होने की माँग करती है, तथापि स्वयं क्रियान्वयन की प्रक्रिया (प्रासेस ऑफ एक्चुअलाईजेशन) स्वभावत: दार्शनिक नहीं है। अत: दर्शन आध्यात्मिक मुक्ति के लिए एक प्रमुख एवं अद्वितीय क्रिया है, क्योंकि इसके बिना तो हमें स्वयं आध्यात्मिक मुक्ति के आदर्श या पुरुषार्थ का भी बोध नहीं हो सकता।

इस संप्रत्यय के अनुसार, भारतीय दर्शन मोक्ष के साथ अविभाज्य रूप से सम्बद्ध है। वास्तव में, यह उनसे कहीं अधिक घनिष्ठता से सम्बद्ध है जितना पॉटर के सम्प्रत्यय में, क्योंकि इसमें मोक्ष की धारणा भी दार्शनिक चिन्तन का परिणाम है। इसके अतिरिक्त, यहाँ सम्बन्ध केवल अविभाज्य ही नहीं है परन्तु इसमें कुछ अन्य भावात्मकता (पोजेटिव) भी है। भट्टाचार्य मत के अनुसार, दार्शनिक चिन्तन के बिना मानव अपने अस्तित्व की उन सम्भावनाओं, के प्रति भी अवगत न हुआ होता जिनका चरितार्थन साधक को मोक्ष की ओर ले जाता है। इस प्रकार, इस दृष्टिकोण के अनुसार दर्शन एक ऐसा अनुशासन है जिस की सम्प्रत्ययात्मक रूप से अन्वेषित सत्यताएँ एक प्रकार की व्यावहारिक प्रक्रिया के द्वारा, जिसे साधना कहा जाता है, सत्यापित की जाती हैं। इस प्रकार से दार्शनिक तथा आध्यात्मिक अनुशासन परस्पर घनिष्ठता से अनुस्यूत रहेंगे और परस्पर निर्धारण करेंगे।

भारतीय दर्शन का आध्यात्मिक भूमि के साथ सम्बन्ध को समझने के लिए भट्टाचार्य मॉडल से एक और उपमा ली जा सकती है। यह कलाओं अथवा आचार के संस्थान के अनुसार हो सकती है, जहाँ कि 'कुछ' सिद्धान्तत: कल्पना अथवा सहज बोध अथवा तर्क बुद्धि से भी ग्रहण किया जाता है और फिर ठोस वस्तुता में मूर्तित किया जाता है। इस व्याख्या के अनुसार, दार्शनिक चिन्तन मानव को

अपनी गहनतम् मूल्यात्मक सम्भावनाओं का बोध देता है, जिसे कि पीछे आध्यात्मिक अनुशासन—साधना—द्वारा मूर्तित किया जाता है।

के.सी. भट्टाचार्य ने इस विषय पर कभी स्पष्ट रूप से नहीं लिखा और इस प्रकार से ये सब विभिन्न व्याख्याएँ उनके विभिन्न लेखों में, जिन्हें उनके पुत्र गोपीनाथ भट्टाचार्य ने संकलित किया है, अर्ध-स्पष्ट रूप में विद्यमान है। इसलिए भट्टाचार्य मॉडल के चारों ओर गुंफित विभिन्न वैकल्पिक व्याख्याओं में भेद करना आवश्यक हो जाता है। किन्तु सब व्याख्याओं में जो एक सामान्य केन्द्रीय तत्त्व है वह यह है कि दार्शनिक चिन्तन एक ऐसा बोध देता है जिसका सत्यापन सैद्धान्तिक चिन्तन के विपरीत आध्यात्मिक साधनात्मक प्रक्रिया द्वारा ही सम्भव है। विकल्पों का प्रसंग यह निश्चय करने में है कि दार्शनिक चिन्तन क्या बोध दे सकता है और इस बोध का अनुभूति और आध्यात्मिक साधना द्वारा उपलब्ध ज्ञान से क्या सम्बन्ध है?

दार्शनिक चिन्तन का अर्थ कुछ सत्ताओं के सैद्धान्तिक ज्ञान से भी लिया जा सकता है जिनका प्रमाणीकरण आध्यात्मिक साधना द्वारा किया जा सकता है। या दार्शनिक चिन्तन का अर्थ संसार का मिथ्यात्व सिद्ध करने में भी लिया जा सकता है, जो संसार की हमारी ज्ञानेन्द्रियों तथा बुद्धि को सत्य प्रतीत होता है। यह उस वास्तविक सत्ता के अन्वेषण की प्रक्रिया है जो स्वभावत: अतीन्द्रिय और अबोधगम्य है। अथवा दार्शनिक चिन्तन का अर्थ निरपेक्ष और पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करने से लिया जा सकता है, जो व्यक्ति की प्राकृतिक और आदर्श स्वतंत्रता समझी जाती है और जो किसी विशेष प्रक्रिया द्वारा प्राप्त की जाती है, जिसका वर्णन दर्शन में किया जाता है। या दार्शनिक चिन्तन का लक्ष्य व्यक्ति की अपनी सत्ता में निहित उन परम तथा आदर्श मूल्यों का अवबोध कहा जा सकता है जिनको चरितार्थ और साकार करने के लिए उचित साधना मार्ग का ग्रहण किया जाता है।

दर्शन के उपरोक्त सभी संप्रत्यय दर्शन को घनिष्ठ रूप से क्रिया से सम्बन्धित करते हैं। अतएव भारतीय दर्शन के विषय में जो साधारण धारणा है वह यही है कि यह आध्यात्मिक साधना की ओर इंगित करता है। परन्तु मूलत: केवल तीसरा दृष्टिकोण ही इसे घनिष्ठ रूप से पूर्ण स्वतंत्रता से, जो कि मोक्ष ही है, सम्बन्धित करता है।

भट्टाचार्य मॉडल की अन्य तीन व्याख्याएँ भी इस प्रकार से की जा सकती हैं जिनका तात्पर्य मोक्ष की पदावली में व्याख्या करना है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है। पहले प्रकार के उदाहरण के अनुसार, दर्शन सैद्धान्तिक विज्ञान है जिसका सत्यापन आध्यात्मिक साधना के द्वारा ही किया जा सकता है और इसके बिना यह केवल कल्पना मात्र ही रह जाता है। दूसरे अर्थ में, दर्शन वस्तुत: निषेधात्मक रूप में है। इसका कार्य समस्त संसार को मिथ्या सिद्ध करना है जबकि इसके

आलोचनात्मक चिन्तन के बिना यह सब को सत्य प्रतीत होगा। चौथे दृष्टिकोण के अनुसार दर्शन रचनात्मक कल्पना ही नहीं, बल्कि यह अपने मूल स्वभाव में अंत तक विषयीनिष्ठ है।

यद्यपि इन चार व्याख्याओं में पर्याप्त भेद है और ये स्वतंत्र रूप से पृथक्-पृथक् विवेचन की अपेक्षा करती हैं, किन्तु ये उन सामान्य विचारों पर कोई प्रभाव नहीं ड़ालती जिनके कारण हम के.सी. भट्टाचार्य के भारतीय दर्शन के संप्रत्यय को उपयुक्त कहना अत्यन्त कठिन पाते हैं। सर्वप्रथम, यदि भारतीय दर्शन के इस संप्रत्यय को ठीक मान लिया जाये तो उसकी आयु बहुत अल्प होनी चाहिए थी। एक बार भी दार्शनिक चिन्तन द्वारा जिन सम्भावनाओं को अभिव्यक्त कर दिया गया है वे मानव द्वारा सदैव स्मृत रही हैं, अत: किसी को उनकी पुन: अवगति के लिए दार्शनिक चिन्तन की प्रक्रिया में से लांघने की आवश्यकता नहीं होती। उदाहरण के लिए, दार्शनिक बुद्धि के लिए, एक बार मोक्ष की सम्भावना का आकलन कर लेने के बाद, उस सम्बन्ध में और कुछ करना शेष नहीं रह जाता, सिवाय मौन में निमग्न हो जाने के। केवल एक ही कार्य जो शेष रह जाता है वह यह है कि प्रत्येक व्यक्ति इसे अपने-अपने जीवन में प्राप्त करे। दर्शन इस प्रक्रिया में कोई मदद नहीं कर सकता। एक बार संस्कृति ने इसे स्वीकार कर लिया तब और कुछ कार्य करने को शेष नहीं रह जाता।

इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि ये दोनों ही बातें भारत की संस्कृति में बहुत आरम्भिक काल में प्राप्त कर ली गई थीं और इन पर दार्शनिक चिन्तन भारत में आधुनिक युग तक पहुँचने तक चलता रहा है। मनुष्य के लिए मोक्ष का आदर्श उतना ही पुराना है जितने उपनिषद् और बुद्ध। दूसरी ओर, इस पर दार्शनिक चिन्तन सक्रिय रूप से 17वीं और 18वीं शती तक होता रहा माना जाता है। भारतीय इतिहास के इन मूलभूत तथ्यों का सामंजस्य करना कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के लिए कठिन हो गया है। वस्तुत: दार्शनिक उसी मोक्ष की सम्भावना को अनन्त काल तक चिन्तन का विषय नहीं बना सकते थे। अतएव भट्टाचार्य का संप्रत्यय उतना ही निराधार है जितना कार्ल एच. पॉटर का। दोनों में अन्तर इतना ही है कि पहले के अनुसार यह आरम्भ में आवश्यक और अनिवार्य है जबकि दूसरे के अनुसार इसका ऐसा स्वरूप कभी भी नहीं रहा।

एक अर्थ में भारतीय आध्यात्मिक परम्परा अन्य परम्पराओं की तरह आत्म स्वातन्त्र्य या मोक्ष को दर्शन से असम्बन्धित मानती है। यदि यह सत्य भी हो कि मोक्ष की सम्भावना पर उपनिषद् काल में दार्शनिक चिन्तन किया गया था, तो भी यह जल्दी ही अनुभव किया गया कि मोक्ष प्राप्ति की साधना में दार्शनिक चिन्तन सहायक होने के बजाय बाधक ही हो सकता है। इस स्थिति में भारतीय दर्शन के पॉटर सम्मत प्रत्यय का आह्वान किया जा सकता है और दार्शनिक कर्म को जारी रखा जा सकता है। वास्तव में यह बात निश्चित है कि एक बार जिस सम्भावना

को देख लिया गया है, उसे दोबारा देखने से कुछ भी प्राप्त नहीं किया जा सकता, किन्तु उस सम्भावना पर संदेह किया जा सकता है और तब दार्शनिक चिन्तन का उन संदेहों के निवारणार्थ उपयोग हो सकता है। किन्तु दुर्भाग्यवश भट्टाचार्य और पॉटर के विचारों के सुन्दर समन्वय के सम्बन्ध में भारतीय आध्यात्मिक परम्परा ने यह शीघ्र ही समझ लिया था कि ये संदेह असंख्य और अनन्त है और यदि कोई भी उसका निराकरण बुद्धि द्वारा करने का प्रयास करता है तो वह मोक्ष के मार्ग का भी ग्रहण नहीं कर सकता। बुद्धि द्वारा इन संदेहों का निराकरण करने की अपेक्षा उसमें विश्वास आवश्यक था, जो स्वभावत: बुद्धि तथा तर्क से भिन्न है। भारत की वास्तविक मुमुक्षु परम्परा द्वारा तर्क बुद्धि के पथ के त्याग के बावजूद भी भारतीय दर्शन विकसित होता रहा। यह एक आधारभूत सत्य है जिसकी अवहेलना भट्टाचार्य और पॉटर दोनों ने अपने सिद्धान्तों में की है और इस तथ्य को देखने की उन्होंने कभी कोशिश भी नहीं की। वस्तुत: यह उन व्यक्तियों के लिए चेतावनी है जो भारतीय दर्शन का सम्बन्ध मोक्ष से जोड़ना चाहते हैं, तथा शायद ही ऐसा कोई व्यक्ति होगा जो ऐसा नहीं करता होगा। यह बात वास्तव में आश्चर्यजनक है कि किसी ने भी इस चेतावनी का सामना करने की कोशिश नहीं की तथा न अपने सिद्धान्तों में इस तथ्य को सम्मिलित करने की कोशिश की है।

भट्टाचार्य दृष्टिकोण को मेरी आपत्ति से बचाने का उपाय एक ही है: दार्शनिक चिन्तन द्वारा दृष्ट सम्भावनाओं को स्वरूपत: अनन्त माना जाये। यदि ज्ञात सम्भावना केवल मोक्ष के समान एक आदर्श तक ही सीमित रखी जाती है तो भी उसका सैद्धान्तिक ज्ञान पूर्ण नहीं कहा जा सकता। इसके अनन्तवर्णी वैविध्य को जानने के अनन्त ढ़ंग हैं। अथवा इसके सैद्धान्तिक ज्ञान और अनुभवीय साक्षात्कार की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया को वैज्ञानिक विधि के अनुरूप अनन्त और असीम समझा जा सकता है। यह बात आवश्यक नहीं कि अनुभव सैद्धान्तिक सम्भावनाओं की प्रामाणिकता का हर जगह समर्थन करे और यह भी अत्यन्त आश्चर्यजनक होगा यदि आनुभविक ज्ञान को सिद्धान्तबद्ध नहीं किया जाये। यह बात एक प्रकार के निरन्तर द्वंद (डाइलेक्टिक) को उत्पन्न करेगी जो मानव अन्वेषण और अनुभवों के अन्य सभी क्षेत्रों में भी पाया जाता है। आखिरकार इस बात में बहुत कम तर्क मिलता है कि केवल मोक्ष को अन्य मानवीय आदर्शों की अपेक्षा क्यों स्थायी माना जाये। इसे भी सत्य, सुन्दर और शुभ के आदर्श की तरह सदैव अस्पष्ट रूप से अवधारित माना जा सकता है, जिसका पूर्ण साक्षात्कार कभी भी नहीं किया गया।

भट्टाचार्य की व्याख्या कितनी भी अधिक मोहक क्यों न हो, परन्तु मुझे इसमें दो दोष दिखाई देते हैं जिससे मुझे यह अनुपयुक्त लगती है। प्रथम तो भारतीय परम्परा आध्यात्मिक और दार्शनिक दोनों रूप से मोक्ष की गुणात्मक व्याख्या के विरुद्ध रही है। यह ऐसा आदर्श नहीं है जिस तक कभी भी पहुँचा नहीं गया है,

प्रत्युत ऐसा जो प्राप्त किया गया है। शायद यही केवल ऐसा आदर्श है जिसे न केवल सैद्धान्तिक रूप से प्राप्त किया जा सकता है, अपितु बहुत से व्यक्तियों ने जिसका भूतकाल तथा वर्तमान में भी अपने जीवन में साक्षात्कार किया है। कोई भी भारतीय यदि यह समझे कि भविष्य में उसे मिलने वाले अनेक जन्मों में भी मोक्ष प्राप्त नहीं होगा तो उसका मोक्ष से बिल्कुल विश्वास उठ जायेगा। भारतीय व्यक्तियों के लिए मोक्ष का अर्थ 'काल' से स्वतंत्रता प्राप्त करने का है, जो समस्त परिवर्तनों का आधार है।

दूसरी ओर यदि यह भी मान लिया जाये कि मोक्ष का संप्रत्यय भारतीय आध्यात्मिक परम्परा के विकास में अनेक रूपों में अन्वेषित और रचित हुआ है तो भी यह सिद्ध करना कठिन होगा कि यह स्वरूपत: बुद्धि-केन्द्रित और विकासशील रहा है। इसका विकास अधिकतर कला की तरह से ही रहा है, प्रज्ञानात्मक (कोग्नीटिव) विज्ञानों के समान नहीं। पीछे की खोजें अथवा सृजन न तो पहले का अतिलंघन करते हैं और न इसका एक प्रासंगिक भाग के रूप में ही समावेश करते हैं, बल्कि नवीन भी पूर्व के साथ समान स्थान रखता है तथा दोनों समान रूप से सत्यता का दावा करते हैं।

इससे भी कठिन कार्य भारतीय दर्शन के विभिन्न संप्रदायों की मोक्ष के संप्रत्ययों में एकरूपता दिखलाने का है। उदाहरण के लिए, वैशेषिक का संप्रत्यय क्या है? तथा न्याय का? मीमांसा का? जब तक कोई व्यक्ति यह प्रदर्शित नहीं करे कि ये विशिष्ट संप्रत्यय विभिन्न सम्प्रदायों के विशिष्ट संप्रत्ययों पर आधारित रहे हैं तब तक यह कहना तर्कपूर्ण नहीं है कि भारतीय दर्शन अविच्छिन्न और अनन्य रूप से मोक्ष से सम्बन्धित है। मैं निश्चित रूप से कह सकता है कि न तो भट्टाचार्य जी और न पॉटर या अन्य किसी ने यह दिखाने की चेष्टा की है कि भारतीय दर्शन किस प्रकार से मोक्ष से सम्बन्धित है। बल्कि वे अन्य लोगों की भांति यह विश्वास करके चले कि भारतीय दर्शन मोक्ष से ही सम्बन्धित है।

यह कहने में कि भारतीय दर्शन मोक्ष-सापेक्ष है, प्रमुख कठिनाई यह है कि इस दृष्टिकोण के आधार पर इस दर्शन के अन्य अनेक सम्बन्धित विचारों को कैसे इससे संगत बनाया जा सकता है? दुर्भाग्य से ऐसा कोई तरीका नजर नहीं आता, क्योंकि दार्शनिक चिन्तन भारत में वैसा ही रहा है जैसा अन्य देशों और परम्पराओं में भी रहा है। इस तथ्य की पुष्टि वे लेखक करते हैं जो भारतीय दर्शन और पाश्चात्य दर्शन में समानान्तरता दिखाने का प्रयास करते हैं; और इनकी संख्या किसी प्रकार से कम नहीं है। भारतीय दर्शन में अनेकों ऐसी समस्याओं का स्थान है जिनका विस्तृत अर्थ में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मोक्ष से कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता।

इस विचार से हम भारतीय दर्शन के तृतीय संप्रत्यय पर पहुँचते हैं। इसके अनुसार, दर्शन उचित रूप से दर्शन है और पाश्चात्य दर्शन से मूलत: भिन्न नहीं

है। इस संप्रत्यय के अनुसार भारतीय दर्शन का मोक्ष से कोई सम्बन्ध नहीं है। और यह धारणा कि भारतीय दर्शन मोक्ष-केन्द्रित है, वस्तुस्थिति को न समझने के कारण तथा एक के बाद दूसरे लेखक द्वारा बिना विचार के इस बात को माने चले आने के कारण हैं। जहाँ तक मैं जानता हूँ इस विकल्प पर किसी ने विचार ही नहीं किया। किन्तु मुझे यह दृष्टिकोण ही ऐसा प्रतीत होता है जो दूसरों द्वारा स्वीकृत दृष्टिकोण में निहित महान् कठिनाइयों का निराकरण कर सकता है। निश्चय ही इसकी अपनी कठिनाइयाँ हैं, किन्तु वे इतनी बड़ी नहीं हैं कि उन्हें इस प्रश्न की स्पष्ट परीक्षा द्वारा सुलझाया नहीं जा सकता।

एक मात्र बड़ी कठिनाई, जिसका समाधान इस संप्रत्यय को करना है, वह है सभी भारतीय दर्शनों का यह दावा कि उनका लक्ष्य मोक्ष है और वे उसका मार्गनिर्देश करेंगे। उदाहरणत: यदि सब सूत्रकार अपनी कृति के आरम्भ में ही लिखते हैं कि उनका दर्शन मोक्ष की ओर जाता है तब, कम से कम प्रकट रूप में, यह एक बहुत बड़ा प्रमाण है कि कम से कम उनकी दृष्टि में दर्शन का सम्बन्ध मोक्ष से है और उसी के प्रसंग से उसका कोई औचित्य है। यही कारण है कि भारतीय दर्शन के सब टिप्पणीकारों ने इस दावे को स्वीकार किया और दोहराया है, क्योंकि प्राचीन लेखकों ने, और लगभग प्रत्येक ने अपनी कृति के आरम्भ में ही, और गम्भीरता के साथ, यह दावा किया है।

तो भी, यद्यपि तथ्य स्पष्ट है, किन्तु यह आश्चर्य की बात है कि सुदीर्घ युगों से किसी ने अपने से यह सरल-सा प्रश्न नहीं किया कि वैशेषिक सूत्रकार जब हमें यह विश्वास करने को कहता है कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य आदि कोटियों का ज्ञान मोक्ष की उपलब्धि करायेगा तब उस पर कैसे विश्वास किया जा सकता है? इसी प्रकार, जब नैयायिक सूत्रकार कहता है कि विभिन्न प्रमाणों तथा तार्किक दोषों का ज्ञान मोक्ष प्राप्ति में सहायक होगा तब उसको क्या समझा जाये? अथवा, बौद्धों के विभिन्न संप्रदायों में विवादों को किस प्रकार निर्वाण में सहायक माना जाये?

यदि हम समझें कि स्वयं इन दार्शनिकों में से भी शायद ही कोई इस बात से सहमत हुआ होगा कि उनकी इस प्रकार की बातें मोक्ष की ओर ले जाने वाली हैं, तब हमें और भी आश्चर्य होगा। स्वयं सूत्रकारों के अपने कथनों के अतिरिक्त, यह विश्वास करना कठिन है कि वह या कोई अन्य संसार में प्राप्त पदार्थों के ज्ञान से अथवा प्रमाणों या हेत्वाभासों के ज्ञान से, जो कि तर्क के क्षेत्र में प्रासंगिक हैं, मोक्ष प्राप्त कर सकता है। ऐसी बात नहीं है कि केवल हम ही इन चीज़ों की मोक्ष से संगति को अस्वीकार कर रहे हैं। वास्तव में स्वयं परम्परा ने ही इन दावों को उसी समय अस्वीकार कर दिया था जिस समय ये दावे किये जा रहे थे। यह अचिंत्य है कि कोई सच्चा मुमुक्षु कभी न्याय-वैशेषिक की विधि से मोक्ष प्राप्ति में प्रवृत्त हुआ होगा।

तब प्रासंगिक प्रश्न यह है कि पहले यह दावा ही क्यों किया गया और पीछे भी किया जाता रहा, जबकि यह सब जानते थे कि यह सर्वथा प्रासंगिक नहीं है।

इसका उत्तर उतना कठिन नहीं है जितना प्रथम दृष्टि में प्रतीत हो सकता है। इस सम्बन्ध में प्रथम सुराग इस प्रश्न से मिल सकता है कि क्या यह दावा केवल दर्शन ने ही किया है? आश्चर्य की बात यह है कि बात ऐसी नहीं है। शायद ही कोई ऐसा प्रयत्न, अध्ययन या मत हो जो यह दावा अपने ग्रन्थ के प्रथम पृष्ठ पर नहीं करता हो। चित्रकला हो या काव्य, संगीत हो, या नृत्य प्रत्येक को मोक्ष का साधन समझा गया। ऐसा ही दावा काम, अर्थ, औषध, व्याकरण और राजनीति विज्ञानों में भी किया गया। इस प्रकार का दावा भारत में प्रत्येक व्यवस्थित अध्ययन का एक साधारणीकृत पक्ष है, सम्पूर्ण क्षेत्र में स्पष्टत: पृथक्कृत तथा सीमांकित प्रदेश नहीं है। इस प्रकार, भारत में मोक्ष प्राप्ति में सहायक होने का दावा अकेले दर्शन ही नहीं करता। और इसलिए इसे उसका विशिष्ट तत्त्व ही नहीं कहा जा सकता। ब्रह्म अथवा सत्ता के समान, इसे सब कुछ का तत्त्व कहा जा सकता है, किन्तु निश्चित रूप से यह विच्छेदक विशेषता नहीं हो सकता। उदाहरणत:, यदि चित्रकला मोक्ष की ओर ले जाने का उतना ही दावा करती है जितना दर्शन, तब स्पष्टत: इन दो में मोक्ष के आधार पर किसी प्रकार का भेद नहीं किया जा सकता।

किन्तु दावा किया ही क्यों जाता है? ऐसा क्यों है कि भारत में सब कुछ को मोक्ष की ओर ले जाने का दावा करना ही चाहिए? जबकि प्रथम दृष्टि में यह पूर्णत: कुछ से ही सम्बन्धित है, इसका उत्तर इस तथ्य में निहित है कि भारतीय दर्शन में मोक्ष को परम पुरुषार्थ माना गया था, अत: भारतीय संस्कृति में किसी भी कार्य को स्वीकृति पाने के लिए अपने आपको किसी प्रकार से मोक्ष से जोड़ना पड़ता था। यदि वह ऐसा नहीं कर पाता तब वह एक साधारणीकृत आकर्षणा खो बैठता और संस्कृति में केवल गौण स्थान ही प्राप्त कर पाता। किन्तु कोई यह नहीं चाहता था कि इस जादुई आकर्षकता से वंचित रहे और अपने अनुशासन के सम्बन्ध में अल्प दावा करे, विशेषत: जब प्रतिस्पर्धी अपने-अपने मत के लिए बढ़-चढ़ कर दावे कर रहे हों। देव-कुल के वैदिक देवताओं के समान प्रत्येक अध्ययन अथवा अनुशासन का परमार्थ ज्ञान की ओर ले जाने का दावा करता था।

किन्तु इस दावे ने किसी को नहीं छला सिवाय भारतीय दर्शन तथा संस्कृति के इतिहास लेखकों के। ऐकिकतापरक पूर्णत: छूंछे दावे ने प्रयत्नों और रुचियों के वास्तव वैभिन्न्य को छिपा रखा, और भारतीय दर्शनिक, जिसे अत्यन्त सूक्ष्म तर्क का तथा बौद्धिक वाद-विवाद का बहुत चाव था, वह कभी पुस्तक के आरम्भ में रूढ़ि के अनुसार मोक्ष सम्बन्धी मंत्र रहने से छल में नहीं आता था।

तब क्या भारतीय दर्शन का मोक्ष से कोई सम्बन्ध नहीं है? ठीक यह है कि, भारत में अनेक दार्शनिकों और दर्शन के अनेक सम्प्रदायों का मोक्ष से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। न्याय, वैशेषिक तथा मीमांसा प्रमुख रूप से इस वर्ग में ही रखे जायेंगे। और फिर, दूसरे कुछ सम्प्रदाय हैं जो मोक्ष से सम्बन्धित हैं, किन्तु केवल आंशिक रूप से। ये कभी पूर्ण और अनन्य रूप से मोक्ष मात्र से ही सम्बन्धित नहीं

हैं, जैसा कि अनेक लेखक सिद्ध करना चाहते हैं; न ये प्रमुख रूप से ही इससे सम्बद्ध हैं। जो बात विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है वह यह कि उनकी रुचि मुख्यत: दार्शनिक प्रकार की है। यह आराम से भुला दिया गया है कि मोक्ष, अन्य सब कुछ के समान, दार्शनिक प्रश्नों को उत्पन्न कर सकता है; और यह वास्तव में ही बड़े आश्चर्य की बात होती यदि मोक्ष को इतना महत्त्व देने वाली संस्कृति में दार्शनिकों ने इस पर विचार नहीं किया होता और इस प्रसंग में अत्यन्त जटिल समस्याओं को न उठाया होता। किन्तु ये मूलत: दार्शनिक समस्याएँ ही हैं और उन पर विचार-विमर्श का स्वरूप मूलत: दार्शनिक प्रकार का है। उनमें कुछ ऐसा तत्त्व नहीं है जो उन्हें मानवीय अनुभव के अन्य क्षेत्रों में उत्पन्न समस्याओं से पृथक् करता हो। उदाहरणत: शंकरोत्तर कालीन वेदान्त में अनेक प्रश्न इसी प्रकार के हैं।

इस प्रकार से भारतीय दर्शन की एकमात्र मोक्ष में ही रुचि नहीं है, और न यह उसका प्रमुखतम प्रश्न ही है। अनेक दार्शनिकों और सम्प्रदायों का इससे कोई दूर से भी सम्बन्ध नहीं है। अनेक अन्य इससे केवल बाहरी वृत्त पर ही सम्बन्धित हैं। बहुत कम दार्शनिकों के लिए यह एक प्रमुख प्रश्न है, और उनकी रुचि भी इसमें विशुद्धत: दार्शनिक प्रकार की है। प्राचीन दार्शनिकों की केवल प्रचारात्मक अभ्युक्तियों ने, और यह देख पाने की असमर्थता ने कि मोक्ष दार्शनिक समस्याओं को भी उत्पन्न कर सकता है, इस भ्रान्त धारणा को जन्म दिया कि भारतीय दर्शन आध्यात्मिक मुक्ति से आन्तरिक और अभिन्न रूप से सम्बद्ध है, और 'दार्शनिक' कही जाने वाली समस्याओं से नहीं। अब समय है कि हम इस सम्मोहन को त्याग दें और भारतीय दर्शन को मूलत: दर्शन के रूप में ही देखें। ❑